भारत का वीर योद्धा

महाराणा प्रताप

भारत का वीर योद्धा महाराणा प्रताप

सुशील कुमार

प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
ISO 9001:2008 प्रकाशक

1

मेवाड़ का राजवंश

वैसे तो मेवाड़ का इतिहास अति प्राचीन है। पुरातात्त्विक खुदाइयों से पता चलता है कि ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से पहली शताब्दी तक यहाँ नदियों के किनारे मानव बस्तियाँ थीं। महाराणा प्रताप के पूर्वजों का काल गुहादित्य से आरंभ होता है, जिन्होंने बलयी से आकर यहाँ अपने राज्य की स्थापना की। इनके वंशज सुहिल या गुहिलौत कहलाए, जिसकी एक शाखा सिसौदिया कहलाई। आगे चलकर इसी वंश में बप्पा रावल जैसे महापराक्रमी राजा हुए, जिन्होंने 734 से 753 ईसवी तक राज्य किया। विदेशी आक्रमणकारियों से मेवाड़ को स्वतंत्र रखने के लिए प्रबल संघर्ष करने के प्रमाण बप्पा रावल और उनके उत्तराधिकारियों की वीरता की गाथाओं से मिलते हैं। इन्होंने सिंध और मुलतान तक जाकर अरब आक्रमणकारियों को खदेड़ा, ताकि वे भारत-भूमि पर आगे बढ़ने का साहस न करें।

बप्पा रावल की कई पीढ़ियों के बाद उनके वंशज सुमेरसिंह 1191 ई.में जब सिंहासन पर आसीन थे, तब मुहम्मद गोरी ने भारत पर आक्रमण किया था। सुमेर सिंह के आठवें वंशज रतनसिंह के समय सन् 1303 में अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड़ पर हमला करके उसे जीत लिया था। राजपूतनियाँ अपनी महारानी पद्मिनी के साथ जौहर करके जिंदा चिता में जल गईं और उनके वीर पति, पिता, भाई केसरिया बाना पहन दुर्ग के द्वार से निकलकर अलाउद्दीन की विशाल सेना से जा टकराए। जब तक इनमें से एक भी राजपूत जीवित था, खिलजी की सेना को उसने आगे नहीं बढ़ने दिया। जब अलाउद्दीन ने चित्तौड़ के दुर्ग में प्रवेश किया तो उसे राख के ढेर के अलावा कुछ भी हाथ न लगा। एक महाश्मशान में खड़े अलाउद्दीन को समझ नहीं आ रहा था कि अपनी इस जीत पर हँसे या रोए। उसने अनेक युद्ध लड़े थे, पर न कभी ऐसी स्थिति का सामना किया था और न इसकी कल्पना ही की थी। बहरहाल अपने बेटे को चित्तौड़ की सूबेदारी सौंपकर अलाउद्दीन दिल्ली लौट गया।

इसके बाद मेवाड़ के इतिहास के गगन में एक और देदीप्यमान नक्षत्र का उदय हुआ, जिसका नाम था हमीर। हमीर शूरवीर भी थे और महत्त्वाकांक्षी भी। उन्होंने सिंहासन पर बैठते ही अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाने और राज्य विस्तार की योजनाओं पर काम करना आरंभ कर दिया। उनकी आँख की सबसे बड़ी किरकिरी तो चित्तौड़गढ़ था, जो उनके पूर्वज रतनसिंह से खिलजी ने छीन लिया था। उन्होंने पर्याप्त सैन्यबल, सुनियोजित रणनीति और आत्मविश्वास के साथ आक्रमण करके चितौड़गढ़ जीत लिया। खिलजियों के बाद हमीर की तुगलकों से भी कई बार मुठभेड़ें हुईं, जिनमें हमेशा वे विजयी रहे। अपने राज्य का विस्तार करने और उसे सुगठित करने के बाद हमीर ने राजगद्दी अपने योग्य पुत्र क्षेत्रसिंह को सौंपी। हमीर के विषय में एक और उल्लेखनीय बात यह है कि सर्वप्रथम इस वंश में उन्होंने ही महाराणा की उपाधि धारण की थी, जो आगे आनेवाले मेवाड़ के शासकों की उपाधि बनी रही।

क्षेत्रसिंह के बाद 1382 ई. में महाराणा लाखा और उनके बाद 1433 ई. में मेवाड़ के शासन की बागडोर उनके पुत्र महाराणा कुंभा के हाथों में आई। उन्होंने अपने कुशल शासन और युद्धों में मेवाड़ की विजय-पताका फहराकर उसकी प्रतिष्ठा में चार चाँद लगा दिए। अपने राज्य का विस्तार करने के साथ-साथ महाराणा कुंभा ने कई दुर्ग बनवाकर उसे सुरक्षित करने का भी प्रयास किया, लेकिन कुंभा के राज्यकाल का सबसे खेदजनक और लज्जास्पद

प्रसंग यह रहा कि मेवाड़ के ऐसे यशस्वी एवं योग्य शासक की हत्या उसके अपने ही अयोग्य पुत्र उदा ने कर दी। मेवाड़ के वीर सामंतों से यह सहन न हुआ। उन्होंने उदा के छोटे भाई रायमल को महाराणा घोषित कर दिया। दोनों भाइयों के बीच हुए युद्ध में रायमल आशा के अनुरूप विजयी रहे।

रायमल के उत्तराधिकारी संग्रामसिंह महापराक्रमी सिद्ध हुए। राणा साँगा के नाम से विख्यात इस वीर सेनानी ने 1508 ई. में सत्ता सँभालते ही मेवाड़ की शक्ति बढ़ानी आरंभ कर दी। अपनी विजय-पताका फहराते हुए राणा साँगा ने उन सभी प्रदेशों को फिर से अपने राज्य में सम्मिलित किया, जो राणा कुंभा के बाद मेवाड़ के शासकों से छिन गए थे। वे अथक परिश्रमी और अत्यंत योग्य सेनापति थे। उनके शरीर पर 80 वीर चिह्न (युद्ध के घाव) थे। राणा संग्रामसिंह को सबसे बड़ा आघात खानवा की लड़ाई में जहीरुद्दीन बाबर से हारने पर लगा। वे पूरी तरह टूट गए और जंगलों में चले गए। इसी बदहाली में 1528 ई. में उनका देहांत हो गया।

राणा साँगा के बाद मेवाड़ का इतिहास उथल-पुथल, षड्यंत्रों, हत्याओं की शर्मनाक गाथाओं का इतिहास है, जिसके अंतिम निष्कर्ष के रूप में राज्य के वास्तविक हकदार उदयसिंह को महाराणा का पद मिला। षड्यंत्र के बल पर दासी पुत्र से महाराणा बने बनवीर को युद्ध में हराकर 1540 ई. में उदयसिंह जब चित्तौड़ के सिंहासन पर आरूढ़ हुए, तब मेवाड़ में अराजकता का वातावरण था। हालाँकि तब उदयसिंह की उम्र बहुत कम थी, लेकिन जल्दी ही उन्होंने राजपाट को ठीक से सँभालने की कोशिशें शुरू कर दीं और जीर्ण-शीर्ण मेवाड़ की हालत धीरे-धीरे सुधरने लगी।

युवा होते ही राणा उदयसिंह आकंठ विलासिता में डूब गए। उनके रनिवास में 20 रानियाँ थीं। उनके पुरखे जहाँ तलवार के धनी थे, उनकी तुलना में विलासी उदयसिंह को कायर ही कहा जाएगा। उनके राज्यकाल में जब पहली बार 1544 ई. में शेरशाह सूरी ने जोधपुर जीतने के बाद चित्तौड़ का रुख किया तो उदयसिंह ने आक्रमणकारी का मुकाबला करने की तैयारी करने के बजाय दुर्ग की चाबियाँ शेरशाह को भिजवा दीं। शेरशाह ने भी राजपूतों से नाहक उलझना ठीक नहीं समझा। उसने यह आत्मसमर्पण स्वीकार करते हुए अपने एक प्रतिनिधि शम्स खाँ की वहाँ नियुक्ति करके उदयसिंह को उसकी देखरेख में शासन चलाने की अनुमति दे दी।

चित्तौड़ पर दूसरा बड़ा संकट 23 अक्तूबर, 1567 को आया, जब अकबर ने एक बड़ी सेना लेकर उस पर चढ़ाई कर दी। उदयसिंह को पहले ही इसकी भनक लग गई थी। वह पश्चिमी पहाड़ी प्रदेश में चले गए। किले की सुरक्षा के लिए उन्होंने वीर राजपूत जयमल और फत्ता के नेतृत्व में 8 हजार राजपूतों को नियुक्त कर दिया। आसपास का इलाका खाली करवा दिया गया। कुछ लोग दूर जंगलों और पहाड़ों में चले गए। बाकी करीब 30 हजार नगरवासी किले को सुरक्षित जानकर वहाँ आ गए।

उन दिनों किला जीतने का एक पुराना आजमाया हुआ तरीका था—उसकी घेराबंदी करके पड़े रहना। जब किले का राशन-पानी खत्म हो जाता था तो उसमें तैनात छोटी सी सेना को फाटक खोलकर खुले में शत्रु से लड़ना ही पड़ता था। अकबर ने भी यही किया। वह कई महीनों तक किले को घेरकर बैठा रहा, पर उसके पास न इतना धैर्य था, न समय था। उसने अपने कारीगर लगाकर दुर्ग की मजबूत चारदीवारी में सुरंगें बनाने और कई स्थानों पर उसे तोड़ने का काम शुरू कर दिया। आखिरकार राजपूतों के भरसक विरोध के बावजूद किले की दीवार कई जगहों से टूटी। अब प्रत्यक्ष युद्ध के अलावा कोई विकल्प न था। राजपूतनियाँ जौहर की ज्वाला में कूद गईं और केसरिया बाना पहने वीर राजपूत दुर्ग के द्वार खोलकर मुगलों की विशाल वाहिनी पर टूट पड़े।

विजयी अकबर ने चित्तौड़ में प्रवेश किया तो न वहाँ उदयसिंह मिले और न उनका शाही खजाना। चिता की राख के अलावा अगर वहाँ कुछ था तो वे निस्सहाय परिवार, जिन्होंने शत्रु के भय से गढ़ में शरण ली थी। अकबर महान्

कहे जानेवाले इस मुगल सम्राट् ने खीजकर उन सबके कत्लेआम का हुक्म जारी कर दिया। उन निहत्थों पर मुगल सैनिक टूट पड़े और देखते-ही-देखते वहाँ लाशों के ढेर लग गए। राजपूतों की आन-बान का प्रतीक चित्तौड़ अब मुगलों के कब्जे में था।

कुछ इतिहासकारों ने टिप्पणी की है कि यह उदयसिंह का कपट था कि उन्होंने संपूर्ण शक्ति लगाकर चित्तौड़ को बचाने का प्रयास करने के बजाय एक छोटी सी राजपूत सेना को वहाँ रक्षा के लिए छोड़ दिया और स्वयं खिसक गए। पर इसका दूसरा पहलू भी है जिस पर विचार न करना उदयसिंह के साथ अन्याय होगा।

चित्तौड़ के लिए लड़ी गई तीन मुख्य लड़ाइयों पर अगर हम नजर डालें तो स्पष्ट हो जाएगा कि अजेय समझे जानेवाले इस दुर्ग की रक्षा करना वास्तव में लगभग असंभव है। उसके चारों ओर का समतल भूभाग शत्रु सेना को पड़ाव डालने और किले को घेरकर बसे रहने की पूरी सुविधा देता है। शत्रु द्वारा किले की पूरी नाकेबंदी हो जाने से बाहर से कोई सहायता नहीं मिलती और अंदर रसद खत्म हो जाने पर रक्षक सेना को बाहर आकर शत्रु का सामना करना पड़ता है। अलाउद्दीन खिलजी के विरुद्ध इसी तरह लड़ते हुए वीर राजपूत मारे गए और महारानी पद्मिनी सहित हजारों राजपूत रानियों ने अपने सम्मान की रक्षा के लिए अग्नि-समाधि ली। दूसरी बार जब गुजरात के बहादुरशाह ने चित्तौड़गढ़ पर आक्रमण किया, तब भी इसी की पुनरावृत्ति हुई। रानी कर्मवती 13,000 राजपूतनियों के साथ जौहर की ज्वाला में भस्म हो गईं और राजपूत शत्रु से जूझते हुए वीरगति को प्राप्त हुए। उदयसिंह के समय यह तीसरी पुनरावृत्ति थी।

पिछले कटु अनुभवों की सीख तो यही थी कि अगर दुश्मन की ताकत बहुत ज्यादा हो, प्राणपण से जूझने पर भी परिणाम मर-मिटना और पराजय ही हो तो अपने जन-धन के सारे संसाधन ऐसे युद्ध में न झोंके जाएँ। महाराणा उदयसिंह ने न तो अकबर की सेना के सामने हथियार डाले, न ही उससे संधि की, यथाशक्ति प्रतिरोध करने की व्यवस्था की और जितने संसाधन बचा सकते थे, उन्हें लेकर गढ़ से निकलकर सुरक्षित स्थान पर चले गए। इससे निश्चय ही जान-माल की काफी हानि से मेवाड़ बच गया।

राणा उदयसिंह जानते थे कि एक-न-एक दिन चित्तौड़ जैसे असुरक्षित गढ़ से उन्हें निकलना पड़ सकता है और किसी प्रबल शत्रु के आक्रमण की स्थिति में किला राजपूतों के हाथ से निकल सकता है। अत: उन्होंने वैकल्पिक व्यवस्था के तौर पर उदयपुर बसाना आरंभ कर दिया था। वहाँ पानी की व्यवस्था के लिए एक विशाल झील उदयसागर भी बनाई गई, जिसके वर्षाकाल में भर जाने पर साल भर पानी की जरूरत पूरी हो जाती थी। इसे पलायन की योजना या कायरता कहना उचित नहीं। यह दूरदर्शिता और व्यावहारिक समझदारी ही थी। जैसे कि हम पहले उल्लेख कर चुके हैं, शेरशाह सूरी के आसन्न आक्रमण को टालने के लिए उदयसिंह ने चित्तौड़गढ़ की चाबियाँ उसे भेजकर अनावश्यक रक्तपात से खुद को बचा लिया। अकबर ने चित्तौड़ में आने पर निरीह नागरिकों का जो अमानुषिक कत्लेआम किया, उसके लिए भी उदयसिंह को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। कदाचित् राणा को अकबर जैसे शासक से नृशंस व्यवहार की आशा न थी।

कुछ इतिहासकारों का यह भी मत है कि उदयसिंह को गढ़ छोड़कर किसी सुरक्षित स्थान पर चले जाने की सलाह खुद उनके प्रमुख सामंतों ने दी थी। यदि ऐसा नहीं भी हुआ हो, तो भी इतना लगभग निश्चित है कि उनके गढ़ त्यागने के निर्णय में उनकी सहमति अवश्य रही होगी। मेवाड़ में राजपूत सामंत सदा शक्तिशाली रहे हैं और उन्होंने असहमत होने पर अपने राणा का विरोध करने में भी कभी संकोच नहीं किया। इस बात का कोई साक्ष्य नहीं मिलता कि चित्तौड़गढ़ में रहकर मुगलों का सामना न करने के उदयसिंह के निर्णय का कोई विरोध हुआ हो। आखिर अपनी प्रतिष्ठा के प्रतीक स्वरूप एक गढ़ की रक्षा के निमित्त पूरे मेवाड़ को संकट में डालने, प्रजा को

बदहाली की स्थिति में पहुँचाने और सारी युवा पीढ़ी का बलिदान देकर भी पराजय का ही मुँह देखने में वीरता भले ही हो, समझदारी न थी। यह वीरता और बलिदान पर आधारित पुरानी नीति के विपरीत नई नीति थी। एक नई सोच, जिसे कायरता की संज्ञा दी गई।

उदयसिंह ने यदि क्षात्र धैर्य का पालन किया ही न होता, अनावश्यक युद्धों से भी कतराते तो उन्हें अवश्य कायर माना जाता, लेकिन सिंहासन पर आसीन होने के बाद अपने राज्य की सुदृढ़ता के लिए और उसे विस्तार देने के लिए उन्होंने सैनिक अभियान भी चलाए, जिनमें से अधिकांश में विजयी रहे। इतना अवश्य है कि ये युद्ध उनके आदेश पर उनके सामंतों ने और किशोरावस्था में कदम रखते ही उनके पराक्रमी पुत्र प्रताप सिंह ने लड़े। विलासी उदयसिंह ने स्वयं उनमें भाग नहीं लिया। यद्यपि किसी शासक के लिए स्वयं सैन्य संचालन करना अनिवार्य नहीं और न ही उसका सेनापति होना कोई आवश्यक शर्त है, तो भी इस नाते उदयसिंह को तत्कालीन राजपूती मान्यता के आधार पर कायर कहा गया।

❑